27

मेरे साहित्य के अंतःसाक्ष्य

1940 से 1950 के बीच का समय मेरे जीवन का साहित्य-सर्जना की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समय रहा है। मेरी आयु का 16 से 26 वर्षों का यह दशक किशोरवस्था से लेकर मेरी पूर्ण युवावस्था तक पहुँचने का ऐसा समय था जब कोई भी व्यक्ति अपनी जन्मजात विशिष्ट प्रवृत्तियों को विकसित करता हुआ उन्हें पूर्णता तक पहुँचा देता है। अधिकांश व्यक्ति इस अवधि के बाद आगे विकसित नहीं हो पाते। आधुनिक मनोविज्ञान भी 26 वर्षों के पूर्व की 22 वर्षों तक की अवधि को ही ऐसी अवधि मानता है जिसमें व्यक्ति के स्वभाव में कोई परिवर्तन किया जा सकता है। इसके बाद स्वभाव की सभी प्रवृत्तियाँ पत्थर की लकीर के समान दृढ़ हो जाती हैं। मेरे साथ एक विशेष बात और भी थी। मुझे अपनी अल्पावस्था में ही मेरी कविताओं की श्रेष्ठता और ऐंद्रियिकता के कारण हिंदी का कीट्स कहा जाने लगा था। 1943 में दमे की-सी पीड़ा के कारण मुझे यक्ष्मा के रोग का भी भ्रम हो गया था क्योंकि मेरी जन्मदात्री माता का तथा मुझसे छोटे भाई वासुदेव का निधन भी यक्ष्मा की बीमारी से हुआ था। यह बीमारी आनुवंशिक मानी जाती थी। 1943 में बी. ए. करने के बाद आगे पढ़ाई नहीं करने तथा एम. ए. में प्रवेश न लेने के मेरे निर्णय का यह भी एक कारण था। आँग्ल कवि कीट्स का निधन यक्ष्मा से 26 वर्ष की अवस्था में हो गया था और मेरे मन में एक धारणा यह बैठ गयी थी कि हो सकता है मुझे भी 1950 तक, जब मैं 26 वर्ष का हो जाऊँगा, चला जाना पड़े क्योंकि यदि यक्ष्मा होता तो वैसी स्थिति आ भी सकती थी। यह भगवान की दया थी कि न तो मुझे यक्ष्मा था और न दमा। मुझे इजनोफील अर्थात रक्त में श्वेत कीटाणुओं के बढ़ जाने से दमें की-सी पीड़ा बारबार भोगनी पड़ती थी। किसी भी अवस्था में, मैंने निश्चय कर लिया था कि मुझे भी जितना कुछ लिखना है, 26 वर्ष की आयु तक पूरा कर लेना चाहिए। इसलिए मेरे कवि-जीवन का यह काल अत्यंत सर्जनात्मक काल रहा है। मैं समझता हूँ, इस अवधि की मेरी रचनाओं के आधार पर भी यदि मेरा मूल्यांकन किया जाय तो संभवतः साहित्य में मुझे वही स्थान प्राप्त हो

सकता है जो मेरे सारे साहित्य के आधार पर मिलेगा। 16 वर्ष से 26 वर्ष की अवधि कविता के लिए सर्वाधिक उपयुक्त भी मानी जाती है। जो कवि नहीं भी होते हैं वे भी इस अवधि में कवि बन जाते है। अधिकांश कवियों का श्रेष्ठतम काव्य इसी अवधि में सृजित हुआ है। इसके बाद या तो वे अपने को दुहराने लगते हैं या कविता में धर्म, दर्शन, नीति, इतिहास आदि की बातें करने लगते हैं, अथवा साहित्य की अन्य विधाओं को अपना लेते है। प्रेम का उनका दृष्टिकोण भी इस अवधि के बाद काव्यात्मक नहीं रह पाता। पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी तो कहा करते थे कि शुद्ध कविता 30 वर्ष की आयु के पूर्व ही लिखी जा सकती है। बात कुछ भी हो, मैंने 26 वर्ष की अवस्था तक अपनी कुछ श्रेष्टतम रचनाएं पूरी कर ली थीं, जो नीचे की तालिका देखने से ही स्पष्ट हो जायगा —

गीत	—	**चाँदनी, कविता**
सॉनेट	—	**सीपी-रचित रेत**
		गाँधी-भारती
प्रेमगीत	—	**ऊसर का फूल**
		नूपुरबँधे चरण
काव्य-नाटक	—	**बलिनिर्वास**
प्रबंधकाव्य	—	**कच-देवयानी, अहल्या**
महाकाव्य	—	**उषा**
दोहे तथा काव्य की अन्य विधाएँ	—	**'रूप की धूप' में संकलित दोहे और रुबाइयाँ, 'ऊसर का फूल' और, 'नूपुर बँधे चरण' में संकलित ओड (ode), एकालाप, प्रतीक-काव्य, गड़ेरिये के गीत, गाथा-काव्य आदि।**

प्रारंभ से ही मुझमें अन्य कवियों से अलग, युग की प्रवृत्तियों से भी भिन्न, अपनी विशिष्ट पहचान बनाने की धुन रही है। जहाँ से जो लेना स्पृहणीय हो उसे लेते हुए उसमें नयापन प्रकट करने की मेरी प्रवृत्ति मेरे साहित्य में सर्वत्र देखी जा सकती है। इस काल की रचनाओं में भी वह स्पष्ट है। मेरे गीत उस काल के प्रमुख गीतकार बच्चन, निराला और महादेवी के गीतों से बिंबात्मकता, रसान्विति तथा छंदयोजना, आदि सभी बातों में सर्वथा भिन्न दिखाई देंगे। रवींद्रनाथ के गीतों से होड़ लेने की आकांक्षा रखते हुए भी **चाँदनी** के मेरे गीत किसी भी अवस्था में रवींद्रनाथ के गीतों के अनुकरण नहीं कहे जा सकते। उन

गीतों के जैसा तीन-तीन आयामों को समेटता हुआ कलात्मक चित्रण तथा शिल्पविधान रवींद्रनाथ के गीतों में नहीं मिलेगा। अपने युग से भिन्न रहकर लिखने की प्रवृत्ति के कारण ही, जब सभी कवि गीत लिखते थे और हिंदी में 1940-50 का दशक गीत-युग कहा जा सकता है, मैंने उस अवधि में **बलि-निर्वास, कच-देवयानी, उषा** और **अहल्या** जैसे काव्यनाटक, प्रबंध-काव्य और महाकाव्य लिखे। मैंने छायावाद के सर्वोत्तम उपकरणों का प्रयोग करते हुए भी उसका अनुकरण नहीं किया वरन सॉनेट में तो एक प्रकार से छायावाद का विरोध ही किया। मेरा पहला सॉनेट ही जो इसका प्रमाण है, द्रष्टव्य है:—

रत्न-जड़ित पिंजरे में तुमने काव्य-विहग को बंद किया,
बाँध दिये पर उसके रेशम और स्वर्ण के तारों से
जैसे रवि संध्या-दिगंत को, निज में राग-मरंद पिया
घेर कला का भवन कलात्मकता की दृढ़ दीवारों से।
गूँज न पाया स्वर उसका तारों से मिला, सधा-साधा,
गृह-प्रांगण के पार, मुक्त नभ के नीले सोपानों पर
चढ़ न सका वह, कृत्रिम गति, शृंगार-समृद्धि बनी बाधा,
भार-रूप-सा शब्द-जाल, पद-बंधन उच्च उड़ानों पर।
फिरा छानता अपने खग के पीछे पर्वत, घाटी, मैं,
डाल-डाल वह उड़ा और मैं पात-पात पर जा बैठा
उसका स्वर दुहराता, मैंने कवियों की परिपाटी में
चरण न बाँधे उसके, कोमल पंखों को न कभी ऐंठा।
मेरा विहग स्वर्ग से भू की परिक्रमा देता क्षण में,
और क्षीण किलकारी भरता जग का, जग के आँगन में।

कच-देवयानी में प्रसादजी के एक छंद विशेष का प्रयोग करते हुए भी मैंने उसकी भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रसादजी जहाँ मूर्त को भी अमूर्त कर देते हैं, वहीं मैं अमूर्त को भी मूर्त कर देता हूँ। जहाँ तक **कच-देवयानी** के प्रेरणा-स्रोत का संबंध है, वह प्रेम-भावना के प्रसंग में वर्णित मसूरी की घटना से मेरे अज्ञात मन द्वारा प्रेरित हो सकता है जहाँ मैंने स्वयं को कच और उस किशोरी को देवयानी के रूप में सँजोया हो। परंतु **उषा** में तो मैंने जानते हुए **ऊसर का फूल** में वर्णित रहस्यमयी को उषा के और स्वयं को प्रभात के रूप में चित्रित किया है। उषा के पुत्र मुकुल की मृत्यु की वेदना का प्रसंग लिखने

के पूर्व मेरी पुत्री शकुंतला की मृत्यु हो चुकी थी और उसीकी वेदना का अनुभव करते हुए मैंने वह प्रसंग लिखा है।

इसी प्रकार **उषा** महाकाव्य में मैंने **कामायनी** से बहुत-सी विशेषताएं ग्रहण करते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न कृति प्रस्तुत की है। मैंने उन दोषों से बचने का प्रयास भी किया है जो मेरी समझ में **कामायनी** को सर्वजन-सुलभ बनाने से रोक देते हैं। छायावाद जिस अस्पष्टता के गुणगान करता है उसकी प्रशंसा करते हुए भी कभी-कभी मैं उसे दोष और कवि की असमर्थता भी मानता रहा हूँ। रचना की संप्रेषणीयता में तो इसके कारण बाधा आ ही जाती है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। हाँ, काव्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों का संकेत अवश्य उसकी चारुता में वृद्धि करता है।

संप्रेषणीयता के इस गुण के कारण ही मेरी उपर्युक्त चारों रचनाएं प्रकाशित होते ही आदृत होती गयीं यद्यपि वे अपने काल की प्रवृत्तियों से सर्वथा भिन्न रही हैं और उनकी प्रशंसा करनेवाले वाद या गुट के कारण ऐसा करने को बाध्य नहीं थे। **कच-देवयानी** के संबंध में तो जैसी अभूतपूर्व प्रशंसा मुझे मिली वैसी हिंदी के किसी कवि को कदाचित् ही उस अवस्था में मिली हो। उसका वर्णन मैं **आधुनिक कवि गुलाब खंडेलवाल** की अपनी भूमिका में कर चुका हूँ।

उषा की भूमिका में पं. सुमित्रानंदन पंत का वक्तव्य तथा अपने आशीर्वचन में पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का, उसे एक अर्थ में **कामायनी** से भी अधिक स्वच्छंदतामूलक घोषित करने का प्रमाणपत्र, मेरे उपर्युक्त कथन के प्रमाण हैं। **उषा** का, प्रकाशन के बाद तुरत, बाद बी. ए. के पाठ्यक्रम में स्वीकृत होना भी कोई छोटी-मोटी उपलब्धि नहीं मानी जायगी जब कि इसके लिए रचना के निजी गुण ही मेरे प्रचार के एक मात्र साधन थे।

उषा और **अहल्या** प्रकाशित होते ही उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत भी की गयीं। आयु के इस भाग के मेरे प्रेम-गीतों को मेरी प्रेम-भावना के प्रसंग में देखा जाना चाहिए। **सीपी-रचित रेत** के सानेट, **चाँदनी, ऊसर के फूल,** तथा **नूपुर बँधे चरण** की प्रेम-भावना में जो ताजगी, अनूभूति की यथार्थता तथा तड़प है, वह भी मुझे अन्य गीतकारों से अलग करती है।

उषा के बाद **अहल्या** की रचना में मैंने एक अछूते प्रसंग को छूने का प्रयास किया है। पत्नी की दुर्बलता का चित्रण संस्कृत या हिंदी काव्य में कहीं भी मेरे देखने में नहीं आया था। अहल्या का जो चित्रण वाल्मीकि रामायण में आया है, वह बहुत बाद में मैंने पढ़ा। मैंने यह अनुभव किया था कि परिवार में पुत्र और

पुत्री को बचपन में समान स्नेह मिलता है। दोनों में समान मानवी दुर्बलताएं भी होती हैं। उनके लिए पुरुष-शासित समाज ने जो भिन्न-भिन्न मापदंड रक्खे हैं, वे उचित नहीं हैं। क्षणिक दुर्बलता के लिए अहल्या को इतना कठोर दंड देना जब कि इंद्र के लिए बहुत साधारण दंड देकर आँख मूँद लेना, यह कहाँ का न्याय है ! यदि सच पूछा जाय तो इंद्र का दोष अहल्या की तुलना में कहीं अधिक है जिसने भोग के सारे साधनों के रहते हुए भी देवत्व को कलुषित किया जबकि अहल्या की वैवाहिक स्थिति प्रारंभ से ही असामान्य थी जो इस क्षणिक दुर्बलता का प्रमुख कारण थी। अहल्या में मैंने निरालाजी के तुलसीदास की छंद रचना को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। इसकी पंक्तियाँ उनके **तुलसीदास** खंडकाव्य से लंबी हैं और **राम की शक्ति पूजा** के छंद में हैं। इसका प्रत्येक छंद दस-दस पंक्तियों का है जिसमें चार-चार पंक्तियों में एक ही तुक है, पाँचवी पंक्ति की तुक दसवीं पंक्ति की तुक से मिलती है और छंद को पूर्णता देती है। इस प्रकार अहल्या का प्रत्येक छंद एक प्रकार से दस पंक्तियों का एक सॉनेट ही है। इसके छंद का तुकांत इस प्रकार है। **a a a a b c c c c b**। **अहल्या** के प्रथम खंड की रचना के बाद बेढबजी बारबार मुझसे कहते थे कि तुमने अहल्या को पत्थर बनाकर छोड़ दिया, उसका उद्धार करो। मैं कहता था कि तुलसीदासजी ने तो उद्धार करा ही दिया है, मैं क्या उनसे आगे जा सकता हूँ! इस पर उनका तर्क था कि तुम अपने ढंग से करोगे। आकाश में चंद्रमा चमकता है तो क्या तारे नहीं चमकते हैं!

फलतः, मैंने अहल्या के उद्धार का द्वितीय भाग लिखना प्रारंभ किया और यह प्रयत्न किया कि वह गोसाईंजी से भिन्न हो, साथ ही उसमें दशरथ के राम- लक्ष्मण को विश्वामित्र के हाथ में देने के असमंजस का, उनके अयोध्या से प्रस्थान के समय का और अहल्या के उद्धार का प्रसंग अधिक विस्तृत और मार्मिक हो।

अंतिम उद्धार का प्रसंग तो जब मैं नगरपालिका की चिंता से मुक्त हो गया, तभी लिख पाया क्योंकि गया वाटरवर्क्स के उपप्रधान तथा युवक पार्टी जिसको संगठित करके मैंने गया नगरपालिका का शासन हस्तगत किया था, उसके मंत्री के नाते 1951 के दशक में मैं इतना व्यस्त हो गया था कि 5-6 वर्षों की अवधि में 2-3 गीतों के सिवा और कुछ नहीं लिख पाया। मेरी रचनाधर्मिता का दूसरा दौर 1960 के दशक में पुनः प्रारंभ हुआ जब मैंने हिंदी में रुबाइयों का या चतुष्पदियों का प्रयोग प्रारंभ किया। इस दौर में मैंने चतुष्पदियों में लंबी-लंबी

रचनाएं भी रचीं जिनमें **उमरखय्याम, बदरीनाथ के पथ पर, कश्मीर, गंगा के किनारे, अतृप्त प्रेम** आदि प्रमुख हैं। कुल मिलाकर इस प्रयोग में मैंने करीब 500 चतुष्पदियाँ लिखीं जिन्हें रुबाई या कता भी कहा जा सकता है, जो **रूप की धूप** के नाम से संकलित हुईं। पं. सीतारामजी चतुर्वेदी ने इसकी भूमिका लिखी तथा उत्तर प्रदेश सरकार ने इसे पुरस्कृत किया।

इस प्रयोग के बाद मेरे मन में ग़ज़लें लिखने की प्रेरणा जगी। इस संबंध में हिंदी ग़ज़लों के दो प्रयोग मेरे हाथ में आये। एक तो रूपनारायण त्रिपाठी का **रूपरश्मि,** दूसरा श्री रुद्र काशिकेय का **ग़ज़लिका**। त्रिपाठीजी की ग़ज़लों में संवेदना पर्याप्त मात्रा में थीं परंतु वे अत्यधिक शुद्ध हिंदी के प्रयोग के कारण उर्दू ग़ज़लों का-सा चमत्कारिक प्रभाव डालने में असमर्थ थीं। जहाँ तक रुद्रजी की **ग़ज़लिका** की बात है, उसमें ग़ज़ल लिखने की उनकी इच्छा के अलावा किसी प्रकार का काव्यत्व है ही नही। मैं दोनों से भिन्न, उर्दू ग़ज़लों की-सी अभिव्यक्ति देकर संवेदना के आधार पर उन्हें जीवन की अनुभूतियों का दर्पण बनाना चाहता था तथा रसदृष्टि से ग़ज़लें लिखना चाहता था। रसदृष्टि से मेरा तात्पर्य है, ग़ज़ल पूरी होने पर शेर अलग-अलग भावों के होते हुए भी किसी एक रस की अन्विति करें या आइ. ए. रिचार्ड्स (I.A. Richards) के शब्दों में रसदृष्टि (attitude) की एकरूपता उनमें सूत्र की तरह पिरोई रहे। मैंने शब्दों की भी यह मर्यादा रक्खी कि किसी भी ग़ज़ल में एक भी शब्द ऐसा नहीं हो जो उर्दू का होते हुए भी हिंदी का नहीं बन गया हो। मैंने उर्दू के व्याकरण का अनुसरण नहीं किया और कहीं भी इजाफत अर्थात दो शब्दों को उर्दू व्याकरण के अनुसार मिलाने की स्वतंत्रता नहीं ली। हिंदी की समास-शैली का तो मैं उपयोग कर ही नहीं सकता था क्योंकि उससे मेरी ग़ज़लियत ही समाप्त हो जाती। मेरी ग़ज़लों की भाषा के संबंध में पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी द्वारा उसे सरल हिंदी का प्रमाण पत्र तो मैंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया पर जब फिराक गोरखपुरी ने उसे सरल उर्दू घोषित किया तो मैं उसे स्वीकार नहीं कर सका। इस विषय में दो-तीन बार मेरी उनसे बहस भी हुई। मैंने उन्हें चुनौती दी कि मेरे उस समय तक प्रकाशित दो गज़ल-संग्रहों में एक भी ऐसा शब्द दिखा दें जो हिंदी का नहीं बन गया हो। मैंने इस बात की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित किया कि मैंने अपनी ग़ज़लों में कहीं भी दो शब्दों की इजाफत नहीं की है। फिराक साहब तो हिंदी को फूटी आँखों से भी नहीं देखना चाहते थे। बजाय मेरी बात का समुचित उत्तर देने के वे मैथिलीशरणजी, प्रसादजी, पंतजी आदि कवियों

की हँसी उड़ाते रहे। यही नहीं, रवींद्रनाथ भी उनकी दृष्टि में अच्छे कवि नहीं थे। खुद क्या थे और उर्दू साहित्य में उनकी जो पूछ है वह कितनी उनकी आक्रामक विद्वत्ता तथा अन्य कारणों से है और कितनी उनकी कविता से, इस पर कुछ भी कहना मैं उचित नहीं समझता।

अपनी ग़ज़लों के लिए नये प्रतीकों में मैंने अपने नाम 'गुलाब' को भी एक प्रमुख प्रतीक बना लिया। उसके काँटे, सुगंध, उस पर गिरी ओस की बूँदे आदि को लेकर मैंने एक वैसा ही पूरा प्रतीक-विधान बना लिया था जैसा तुलसीदास ने चातक पर बनाया था। इसका एक लाभ मुझे यह भी मिला कि हर ग़ज़ल के आखिरी शेर में उस गुलाब के प्रतीक द्वारा मैं अपने नाम का केवल नाम के लिए प्रयोग करने से बच गया जो ग़ज़लों के लिए आवश्यक माना जाता है। मेरा नाम भी आ गया और गुलाब के प्रतीक द्वारा सार्थक अर्थ भी उससे निकलता गया जो उस आखिरी शेर में नया चमत्कार पैदा करता गया। मैंने अपनी पुस्तक **अंतःसलिला** में अपने 365 ग़ज़लों के ये आखिरी शेर एक स्थान पर एकत्र कर दिये हैं। मेरे जानते, शायद ही किसी उर्दू या फारसी के ग़ज़लकार ने इस प्रकार अपनी प्रायः सभी ग़ज़लों में अपने नाम का ऐसा द्वयर्थक प्रयोग किया हो।

ग़ज़लों के इस प्रयोग में मुझे अपने प्रिय मित्र विश्वनाथ सिंह का सहयोग, प्रोत्साहन और संशोधन भी निरंतर मिलता गया। अपनी प्रथम 108 ग़ज़लों की पुस्तक, **सौ गुलाब खिले** मैंने उन्हें ही समर्पित की है। मैं जब कोई नयी ग़ज़ल लिखता तो उन्हें सुनाने को बेचैन हो जाता। कई बार वे ऐसे सुझाव देते कि मैं चमत्कृत हो जाता कि इतनी सहज बात मुझे क्यों नहीं सूझी। मैंने प्रारंभ की 3-4 ग़ज़लें लिखने के बाद ही समझ लिया था कि मुझे न केवल प्रतीक, बिंब-विधान तथा अपनी अनुभूति के आधार पर ही ग़ज़लों के लिए नयी भूमि बनानी होगी, भाषा भी नयी गढ़नी होगी जिसमें उर्दू की मुहावरेदानी और तर्जे बयानी का भरपूर उपयोग कर सकूँ। प्रारंभ की एक ग़ज़ल में मैंने लिखा था —

मीर गालिब को छूना खेल नहीं
फिर भी करके प्रयास देखेंगे

और यह प्रयास तो तभी सफल हो सकता था जब उर्दू ग़ज़लों के जैसा बाँकपन और तेवर भी मेरी ग़ज़लों में आ जाता। जब ग़ज़लों के अनुरूप नयी भाषा भी मेरी पकड़ में आ गयी तो मैंने लिखा -

कहाँ मीर गालिब की ग़ज़लें कहाँ मैं!
बनाने से थोड़ी हवा बन गयी है

अब वह बात बता रहा हूँ जिससे आप मेरी इस प्रयोग के प्रति गहरी आस्था को देख सकेंगे। मुझे प्रारंभ की 64 ग़ज़लें लिखने के बाद कुछ भी नहीं सूझा कि क्या लिखूँ। कोई प्रबंधकाव्य तो था नहीं, न कोई तरह अर्थात् समस्यापूर्ति पर रचना करनी थी जिस पर पारंपरिक ढाँचे में तुक जोड़कर ग़ज़ल तैयार की जाय। मैंने हर ग़ज़ल में एक सर्वथा नया रदीफ रखने का निश्चय भी कर रक्खा था। परंतु ग़ज़ल में सभी बातें तो किसी अज्ञात स्रोत से आती हैं जिसके लिए एक उर्दू शायर ने कहा है - **आते हैं गैब से ये मजामीं ढले हुए।** आगे प्रगति होने के लक्षण नहीं दिखे तो एक दिन भोर में उठकर मैंने अपने नियंता से शिकायत करनी शुरू की—

'मैं जो भी लिखता आया हूँ वह तेरी कृपा से ही संभव हुआ है। मैंने तेरे बल पर ही 108 ग़ज़लें लिखने का संकल्प लिया था अन्यथा मेरी, जो उर्दू का अलिफ-बे भी नहीं लिख सकता, इस विषय में क्या योग्यता थी! यदि तू मुझसे काव्य-संबंधी काम आगे नहीं लेना चाहता और मुझसे अपने संकल्प को बीच में छुड़ा देना चाहता है तो मुझे भी इस प्रकार जीने में कोई रुचि नहीं है। या तो मेरे इस कार्य को बढ़ाता जा या मुझे उठा ले।' इस प्रार्थना का चमत्कारिक प्रभाव हुआ और शीघ्र ही 109 की माला पूरी हो गयी। मैं तो पूजा की माला 108 मनकों की ही समझता था परंतु पं. सीतारामजी चतुर्वेदी ने मेरा समाधान यह कहकर कर दिया कि बीच का एक अतिरिक्त मनका सुमेरु कहलाता है और इस प्रकार 109 मनकों की माला ठीक है। मेरी ग़ज़लों के प्रणयनकाल में, गया के मेरे आदरणीय मित्र श्यामदत्त मिश्र भी समय-समय पर मुझे प्रोत्साहन देते रहते थे।

जब ग़ज़लों की पहली पुस्तक 1973 में छपी तो कोलकाता के मित्रों ने इन ग़ज़लों को हाथों-हाथ उठा लिया। पूज्य सीतारामजी सेकसरिया के सभापतित्व में इनके प्रकाशन के पूर्व वहाँ की एक साहित्यिक संस्था मित्र-मंडल के तत्त्वावधान में इनका सांगीतिक रूप भी उजागर हो गया। मित्र-मंडल के मंत्री श्यामसुंदरजी झुनझुनवाला उस समय से मेरे घनिष्ठ मित्र और प्रशंसक भी बन गये। सीतारामजी सेकसरिया तो मेरी ग़ज़लों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कहा कि इन्हें छपवा कर ही आप कोलकाता से प्रस्थान करें। छपाई का बिल भी उन्होंने मुझे नहीं चुकाने दिया, बिना मूल्य लिये कागज तो भिजवाया ही था। विश्वनाथबाबू मेरे साथ ही कलकत्ता गये थे और रातों जगकर हम लोगों ने ग़ज़लों की इस पुस्तक की, जिसका नाम मैंने **सौ गुलाब खिले** रक्खा था, पांडुलिपि का अंतिम प्रारूप तैयार किया। जब छपी तो भाषा और भावों की

नवीनता देखकर कोलकाता के मेरे मित्र नथमलजी केड़िया और भँवरलालजी दवे आदि कहने लगे कि गुलाबजी की संस्कृत-बहुल शैली में यह एक चमत्कार है। ऐसा दुबारा नहीं हो सकता। मुझ पर भी इन ग़ज़लों का नशा छा गया क्योंकि रेडियो पर और स्थान-स्थान पर लोग इन्हें गाने भी लगे। गया के मेरे एक मित्र, कालीचरणजी ने तो पूरी किताब ही कंठस्थ कर ली। एक बार ट्रेन से आते समय रात में गया स्टेशन पर एक देहाती-से लगनेवाले व्यक्ति ने मुझसे पूछा, 'क्या आप गुलाबजी हैं।' मेरे हाँ कहने पर उसने मेरे पाँव पकड़ लिये और बोला, 'मैंने आपकी ग़ज़लों की पुस्तक **सौ गुलाब खिले** अस्पताल में एक व्यक्ति से लेकर पढ़ी। वे मुझे इतनी अच्छी लगीं कि मैं अपनी बीमारी भूलकर ग़ज़लों को कंठस्थ करने लगा। मैंने 40 ग़ज़लें कंठस्थ कर ली थीं तब तक वह व्यक्ति, जिससे वह पुस्तक लेकर मैं ग़ज़लें याद कर रहा था, स्वस्थ हो गया और अपनी पुस्तक लेकर चला गया। इसलिए मैं आगे याद नहीं कर सका। मैंने उससे सुनाने को कहा तो वह धारावाहिक रूप में मेरी ग़ज़लों को सुनाने लगा। मैं उसे अपने साथ घर पर ले आया और **सौ गुलाब खिले** की एक प्रति उसे उपहार में दी। बीच-बीच में यह भी मेरे सुनने में आता था कि कई बार विवाह के अवसर पर आमंत्रित उच्चकोटि की गणिकाओं ने उन ग़ज़लों को गाना प्रारंभ किया है। मेरी ग़ज़लों के एक भक्त कालीचरणजी बड़े लोकप्रिय व्यक्ति थे और मेरे साथ गया नगरपालिका के सदस्य भी रह चुके थे। स्वयं गायक और एक नाटक-कंपनी के मालिक होने के कारण नगर की गणिकाएं भी उनकी भक्त थीं। वे मुझसे **सौ गुलाब खिले** की प्रतियाँ आधे मूल्य पर खरीदकर उनमें बाँट आते थे। पटना रेडियों से भी इनका निरंतर गायन होने लगा। इन सब कारणों से और यह दिखाने को भी कि यह एक बार का चमत्कार नहीं है और हो भी तो मुझे प्रेरणा देनेवाले की शक्ति अनंत है, मैंने 365 ग़ज़लें लिखने का निश्चय किया ताकि प्रतिदिन एक ग़ज़ल गायी जा सके। इस प्रकार मेरी ग़ज़लों के 4 संग्रह प्रकाशित हो गये जिसमें अंतिम चौथे संग्रह का नाम था, **हर सुबह एक ताज़ा गुलाब** और दूसरे और तीसरे संग्रह के नाम क्रमशः **पँखुरियाँ गुलाब की** और **कुछ और गुलाब** थे। मेरा दूसरा संग्रह **पँखुरिया गुलाब की** कोलकाता के मेरे आदरणीय मित्र पुरुषोत्तमजी की पुत्रवधू श्रीमती उषा केजरीवाल को समर्पित है। चौथा संग्रह मेरे गया के घनिष्ठ मिश्र और मेरे परम प्रशंसक राय बागेश्वरी प्रसाद को समर्पित है। एक विशेष बात यह है कि मेरे चारों संग्रह 1973 से 1981 के बीच के कालक्रम से छपे हैं और उनमें

संगृहीत ग़ज़लें भी उसी क्रम से छपी है जिस क्रम से वे लिखी गयी थीं। उनका भाषिक एवं संवेदनात्मक विकास-क्रम दृष्टव्य है।

मैंने अपनी ग़ज़लों के शेरों में लौकिक प्रेम, ईश्वरीय प्रेम और अपनी किसी मनःस्थिति का चित्रण एक साथ करने का प्रयत्न किया है। **सौ गुलाब खिले** में तो मैंने यह घोषणा भी कर दी थी—

मेरी ग़ज़लों में ढूँढ लेना मुझे
नहीं कोई निशान हो भी तो।

मैंने यह भी प्रयत्न किया कि मेरे किसी भी शेर में किसी उर्दू शेर की छाया, प्रतिध्वनि या अनुकृति न दिखाई दे और यह शेर लिखा—

जहाँ भी हमको मिली राह कोई जानी हुई
वहीं से पाँव को तिरछा हटा के रक्खा है

जब **सौ गुलाब खिले** के छपने के बाद मैंने उसकी एक प्रति हिन्दू विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के प्रोफेसर बी. एल. साहनी साहब को भेजी तो एक विवाह-समारोह में भेंट होने पर उन्होंने मुझसे कहा - 'भई वाह ! उर्दू शायरों ने शेर लिखे हैं, तुमने ग़ज़ल लिखी है।' मैंने अपनी प्रत्येक ग़ज़ल द्वारा किसी विशेष रस की स्थिति लाने का जो प्रयत्न किया था, साहनी साहब का उसी ओर इशारा था। साहनी साहब, अंग्रेजी, परसियन और हिंदी कविता, तीनों के ही विद्वान थे। प्रसादजी की **कामायनी** का प्रसादजी के अनुरोध से उन्होंने अंग्रेजी में अद्‌भुत अनुवाद किया था। उन्होंने एक समारोह में मेरी प्रशंसा करते हुए घोषणा की थी कि वे मेरी **उषा** का भी अंग्रेजी में अनुवाद कर रहे हैं। खेद है कि एकाएक निधन हो जाने के कारण वे उसे पूर्ण नहीं कर सके और उसकी अधूरी पांडुलिपि भी मुझे उपलब्ध नहीं हो सकी। ग़ज़लों के प्रयोग में निराला जी की चर्चा भी आवश्यक है। यद्यपि मैंने उनसे किसी भी प्रकार की इस विषय में प्रेरणा नहीं स्वीकार की है, जो नीचे लिखे प्रसंग से स्पष्ट हो जायगी। ग़ज़लों के इस प्रयोग के प्रायः पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व की बात है, एक दिन मैं दिनभर निरालाजी के साथ एक कमरे में टिका था। वे दिन भर मफइलून, मफालून की माला जपते हुए बीच-बीच में कुछ लिखते जाते थे। जो लिखते थे उसे 'मफइलून' मफाललून आदि शब्दों को बोल-बोलकर मुझे सुनाते भी जाते थे। उनकी सुनाई हुई दो पंक्तियाँ मैं याददास्त से उद्‌घृत कर रहा हूँ—

छंदों को विनिस्तार दिये जा रहा हूँ मैं
विस्तार को विस्तार दिये जा रहा हूँ मैं

बाद में बेढबजी ने मुझे बताया कि मफलून मफाइलुन आदि उर्दू के ग़ज़लों के मीटर हैं जिन पर निरालाजी अपनी पंक्तियाँ फिट कर रहे थे। मैं जानता था कि मीटर पर शब्द जोड़-जोड़कर काव्य, विशेषकर ग़ज़ल जैसा संवेदनात्मक काव्य नहीं लिखा जा सकता। मैंने मीटर का माप अपनी आंतरिक लय को ही माना था और मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई थी कि मेरी सभी ग़ज़ले उर्दू के मीटर पर भी शत-प्रतिशत सही उतरी हैं और कवि के संबंध में इस उक्ति को चरितार्थ करती हैं—**बिन गने होय पूरन कला**। निरालाजी के साहित्य के प्रति गहरी आस्था रखते हुए भी मैं ग़ज़लों के नाम से लिखी उनकी रचनाओं को उनकी कीर्ति के अनुरूप नहीं पाता हूँ।

ग़ज़लों के प्रयोग के बाद मेरे मन में आया कि बातचीत की शैली में मैं कविताएं लिखूँ जो आज के लोगों के मिजाज के अधिक अनुकूल हो। ग़ज़लों के दौर के बाद 1980-81 के आसपास मैं मानसिक रूप से कुछ निराशा का अनुभव करने लगा था। मुझे लगता था कि किसी अज्ञात सत्ता द्वारा चेतनाधारी मनुष्य बालकों के समान किसी महासागर के तटपर छोड़ दिये गये हैं जहाँ उस अदृश्य सत्ता ने तो उन्हें भुला ही दिया है, कोई अन्य सहायक भी नहीं है। ऐसी मानसिक अवस्था में मैंने **शब्दों से परे** की कविताएं लिखीं। परंतु साल दो साल की इस मानसिक स्थिति से, मेरी मूल आस्तिकता की भावना ने और मेरे संस्कारों ने मुझे उबार लिया और मैंने **व्यक्ति बनकर आ** नामक संग्रह की भक्तिपरक कविताएं लिखीं जो बातचीत की शैली में विचार-प्रधान हैं। बहुत-सी रचनाओं में उसमें ्परम सत्ता से सीधी बातचीत भी होती गयी है। उसकी ओर से जो उत्तर मैंने अनुभव करके लिखे, उनसे मेरा आत्म-विश्वास और श्रद्धा-भावना पुनः जाग्रत हो गयी।

परंतु जब मैं **व्यक्ति बनकर आ** की गद्यात्मक शैली की रचनाएं लिख रहा था, जिनकी लय तो अत्यंत सूक्ष्म, प्रायः नहीं के बराबर थी, परंतु जिनमें तुक के रूप में पंक्तियों में काव्य के एक प्रभावशाली उपकरण का भरपूर उपयोग किया गया था, तो मेरे मन में यह विचार उठा कि मैं, जो प्रारंभ से ही कविता को दर्शन और विचारों का माध्यम बनाने से बचता आ रहा हूँ, कहीं स्वयं ही तो उस दलदल में नहीं फँसता जा रहा हूँ। जैसा कि मेरी उस काल की अधिकांश रचनाओं से प्रत्यक्ष है, मैं उस समय तक रूमानी शैली की कविताएं लिखता आ रहा था और मेरी ग़ज़लों में भी इश्कहक़ीकी रंग मानवी प्रेम की चाशनी में ही लिपटा हुआ था, इसलिये **व्यक्ति बन कर आ** की गंभीर

कविताओं को देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक भी था कि कहीं कविता की भावभूमि छोड़कर शुष्क दार्शनिक चिंतनधारा में मैं भी तो नहीं डूबने जा रहा हूँ। इसलिए अपने हृदय की रूमानी भावधारा को व्यक्त करने के लिए उन्हीं दिनों मैं उसी छंदमुक्त शैली में प्रेम की कविताएं भी लिखने लगा जो मेरी पुस्तक **बूँदें, जो मोती बन गयीं** में संगृहीत हैं। उन्हीं दिनों मैंने छंदमुक्त शैली में कुछ लंबी कविताओं के प्रयोग भी किये जो **नये प्रभात की अँगड़ाइयाँ** के नाम से ग्रंथाकार प्रकाशित हैं और जिनकी भूमिका एक छोटे-से प्रसंग से मेरे विरोधी समझ लिये जानेवाले मेरे परम हितैषी और शुभचिंतक श्रद्धेय अक्षयचंदजी शर्मा ने लिखी है। **व्यक्ति बन कर आ** की कविताओं का मैंने अमेरिका में पहुँचने के बाद अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। एक बार शंकरदयाल सिंहजी के निवासस्थान पर एक भोज में माननीय डा. कर्णसिंहजी से मेरा परिचय हो गया और मैंने उनसे अंग्रेजी के उस काव्यानुवाद की भूमिका लिखने का आग्रह किया जो उन्होंने स्वीकार ही नही किया मेरे अनुवाद को भली-भाँति देखकर मुझे कई सुझाव भी दिये। डॉ. कर्णसिंहजी ने उस अवसर पर मुझे अपनी ग़ज़लों को हिंदी ग़ज़ल न कहकर सिर्फ 'ग़ज़ल' के नाम से अभिहित करने का सुझाव दिया जो थोड़ी बहस के बाद मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

छंदमुक्त रचनाएं प्रारंभ करने के कुछ दिनों बाद ही मैं अमेरिका में रहने लगा था, यद्यपि भारत प्रतिवर्ष मेरा आना-जाना लगा रहता था। अमेरिका में छंदमुक्त कविता की उसी शैली में मैंने भर्तृहरि के तीन शतकों की तरह भक्ति, शृंगार और चिंतन में प्रत्येक पर एक शतक लिखा और तीन शतकों की इस पुस्तक को **कस्तूरी कुंडल बसे** के नाम से संगृहीत किया। भर्तृहरि के वैराग्य के स्थान पर मैंने भक्ति को मान्य किया क्योंकि वैराग्य मेरे जीवन में नहीं था। शृंगार तो मेरा प्रिय विषय था ही यद्यपि भर्तृहरि से वह भिन्न रूप में अभिव्यक्त है। नीति को काव्य में प्रकट करना भर्तृहरि जैसे संत और योगी के ही बस की बात थी, वह सहज काव्य का विषय नहीं है। इसलिए तीसरे शतक का विषय मैंने **चिंतन** रक्खा। अपनी पुस्तक **कस्तूरी कुंडल बसे** मैंने श्रद्धेय विमल मित्रजी को समर्पित की जिनका स्नेह मुझे सदा मिलता रहा था।

अमेरिका में आने के दो सप्ताह बाद ही मुझे कनाडा के टोरंटों नगर में जाना पड़ा। मेरे कविरूप की जानकारी होते ही वहाँ मेरे लिए एक विशेष काव्यगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसके संयोजक महीप सिंहजी नामक एक सिक्ख सज्जन थे। टोरंटो में कितने ही ऐसे सज्जन भी निकल आये जो मुझे

बनारस के अध्ययनकाल से जानते थे। फलतः गोष्ठी बड़ी सफल रही। महीप सिंहजी ने, जो हिंदी में एक साप्ताहिक भी टोरंटो में निकालते थे, अपने साप्ताहिक में मेरे चित्र और मेरी कविताओं के नमूने के साथ इस गोष्ठी का विस्तृत विवरण प्रकाशित किया। वहीं मुझे वाशिंगटन डी. सी. के डॉ. रविप्रकाश सिंहजी का पता मालूम हुआ जो मेरे आदरणीय मित्र डॉ. कुँवर चंद्रप्रकाश सिंहजी के पुत्र थे। मैंने अपने नगर क्लीवलैंड में लौटकर रविप्रकाशजी से फोन पर संपर्क किया और उन्होंने मुझे दो सप्ताह बाद वाशिंगटन में होनेवाले अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति की ओर से आयोजित कविसम्मेलन का सभापतित्व करने का अनुरोध किया। उस आयोजन में जब मैं अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठा था तो मुझे बताया गया कि भारतीय जनता पार्टी के प्रमुख नेता माननीय अटलबिहारी बाजपेयीजी, जो कुछ दिनों पूर्व भारत से आये हैं, मंच पर बैठे हैं और वे कविता भी करते हैं। मैंने तुरत इसकी घोषणा करते हुए अटलजी से काव्यपाठ करने का अनुरोध किया। इसके बाद अटलजी ने कई ओजभरी कविताएं सुनाकर लोगों का मन मोह लिया। मैं समझता हूँ, विदेश की, और विशेषतः अमेरिका की भूमि पर अटलजी का कविरूप में आने का और कवितापाठ करने का वह प्रथम अवसर था। उसके बाद तो तीन-चार दिन, जब तक अटलजी वाशिंगटन डी. सी. में रहे, हम लोग साथ-साथ रहे। अटलजी चूँकि देश के सम्मान्य नेता थे, अतः स्थान-स्थान पर उनका सम्मान होता गया जिसमें मैं भी भागीदार बनता गया। जब अटलजी वाशिंगटन डी. सी. से जाने लगे तो मैं उनके साथ एयरपोर्ट तक गया और वहाँ हम दोनों का एक साथ चित्र भी लिया गया। जो अब मेरे ड्राइंगरूम की शोभा बढ़ा रहा है।

अटलजी को अपनी वाशिंटन-यात्रा में बाल्टीमोर के मेयर द्वारा बाल्टीमोर नगर की मानद नागरिकता भी दी गयी जहाँ मैं भी उनके साथ गया। इसके दो वर्ष बाद, वाशिंगटन डी. सी. के एक आयोजन के बाद वह नागरिकता बाल्टीमोर के मेयर द्वारा मुझे भी दी गयी। मैंने अंग्रेजी में अनुवादित अपनी कुछ चुनी हुई कविताओं की पांडुलिपि उनके पास भेज दी थी। मैं समझता हूँ, यह नागरिकता, जो मेरे पहले भारत की तत्कालीन प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी को तथा पूर्व रक्षामंत्री अटलजी को दी गयी थी, मुझे मेरे अत्यंत स्नेहास्पद रविप्रकाश सिंहजी के प्रयत्नों से ही मिली थी जो **अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति** के प्राण थे। इस आयोजन के बाद मैंने क्लीवलैंड में भी **अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति** की शाखा स्थापित की तथा उसके अंतर्गत तुलसी-जयंती तथा अन्य कई आयोजन किये।

उसके दो आयोजनों में सुप्रसिद्ध हास्य-कवि काका हाथरसी, गीतकार श्री सोमठाकुर तथा आशुकवि ब्रजेंद्र अवस्थी भारत से पधारे थे जिन्होंने अपने कवितापाठ द्वारा नगर में काव्य की चेतना जगा दी थी।

अमेरिका के हिंदी-भाषियों में तो मेरी पहचान हो ही गयी थी परंतु जिस घटना ने मेरे साहित्य में एक नयी दिशा लाने का काम किया वह कुछ और ही थी। मुझे न्यूयार्क में मेरी ग़ज़लों की लोकप्रियता के कारण, एक मुशायरे में बुलाया गया। सभा में स्त्री-पुरुषों को मिलाकर प्रायः 5-7 सौ भारतीयों से कम की उपस्थिति नहीं थी जो आश्चर्यजनक थी क्योंकि उसी दिन न्यूयार्क के एक अन्य भाग में हेमामालिनी सदलबल अपना नृत्य प्रदर्शित करनेवाली थी। जब मैंने आयोजकों से पूछा कि बाहर से और कौन-कौन शायर आये हैं तो उन्होंने बताया कि केवल आपको बुलाया गया है। अपने नगर क्लीवलैंड में तो मैं वहाँ की संस्था **बज़्मेअदब** के तत्त्वावधान में होनेवाले मुशायरों में जाता रहता था परंतु मैंने यह नहीं सोचा था कि न्यूयार्क तक मेरी ग़ज़लों की ख्याति इतनी फैल गयी है कि इतने बड़े मुशायरे में बाहर से शायर के नाम पर अकेले मुझे बुलाया जायगा। मेरी ग़ज़लें तो भाषा की सरलता तथा भावों की सार्वजनीनता से मुशायरों में बहुत प्रशंसित होती थीं ओर गायकों द्वारा भी खूब अपनायी गयी थीं क्योंकि वे जीवन की संवेदना पर आधारित थीं और प्रत्येक हिंदी और उर्दू के श्रोता उन्हें आसानी से समझ लेते थे, परंतु मेरे हिंदी के गीत उस प्रकार आम लोगों में लोकप्रिय नहीं थे। मैं सोचने लगा कि कुछ तो कारण होगा कि सूर, तुलसी, मीरा के बाद हिंदी का गीत-साहित्य क्यों उर्दू की ग़ज़लों की तरह संगीत में नहीं उतर पाता है और साहित्य और संगीत नदी के दो किनारों की तरह तीन-चार सौ वर्षों से एक दूसरे से विभक्त हैं। मैंने उसी समय यह निश्चय किया कि मैं हिंदी गीतों को भी वैसी ही सरल संवेदनामूलक अभिव्यक्ति दूँगा जैसी मैंने उर्दू ग़ज़लों को दी है। इस प्रकार के गीतों द्वारा साहित्य और संगीत के बीच की दूरी मिट सकेगी और हमारा खड़ी बोली का आधुनिक गीत-काव्य भी संगीतज्ञों द्वारा गाया जाकर उसी प्रकार घर-घर में फैल जायगा जिस प्रकार सूर, तुलसी और मीरा के गीत जन-जन के कंठहार बने हुए हैं। यह निश्चय बहुत बड़ा था परंतु मैंने सोचा कि मैं तो उस अगम्य सत्ता के भरोसे प्रारंभ से ही अपना साहित्यिक विकास करता आया हूँ और सदा ऐसे ही अकल्पित और कठिन संकल्प लेता आया हूँ। आधुनिक युग के एक साधारण गृहस्थ परिवार के जीवन को आधार बनाकर और पुरुष के स्थान पर स्त्री को

उसकी नायिका बनाकर मैंने एक बहुत बड़ी चुनौती 20-21 वर्ष की उम्र में स्वीकार की थी जिसमें सरस्वती की कृपा से, अपनी समझ में मैं सफल हो चुका था क्योंकि महाकाव्य के सभी स्वीकृत शास्त्रीय लक्षणों की उपेक्षा किये जाने पर भी **उषा** को आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा महाकवि श्री सुमित्रानंदन पंत ने महाकाव्य घोषित करके उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उसके बाद वैसी ही कठिन चुनौती मैं स्थापित परंपरा के विरूद्ध, ग़ज़लों में भाषा, प्रतीक-योजना और अभिव्यक्ति की मौलिकता को साधन बनाकर स्वीकार कर चुका था और हिंदी में ग़ज़लों का प्रवर्तन करके चार संग्रह हिंदी-संसार को दे चुका था। देवी सरस्वती का हाथ तो मेरी पीठ पर है ही। मैंने सर्वप्रथम **सब कुछ कृष्णार्पणम्** नामक कविता द्वारा इस प्रयास में भगवत् कृपा का आह्वान किया और उसके बाद दूसरे गीत में देवी सरस्वती की उपासना की और गीतों का यह क्रम चल पड़ा जिनकी संख्या आठ सौ के करीब जा पहुँची है। इनमें अधिकांश गीत भक्ति के और कुछ शृंगार के है। मैंने अनुभव किया है कि भक्ति ओर शृंगार के गीत ही स्थायी महत्त्व के होते हैं। भगवत्-कृपा के आह्वान और देवी सरस्वती के प्रति लिखे दोनों गीत दृष्टव्य हैं—

सब कुछ कृष्णार्पणम्, सब कुछ कृष्णार्पणम्
ज्ञान-ध्यान, शक्ति-श्रम
राग-द्वेष, मोह-भ्रम
दाह, दीनता, अहम्
सब कुछ कृष्णार्पणम्
भोग-योग यम-नियम
श्रेय, प्रेय, प्रेयतम
लाभ-हानि, सम-विषम
सब कुछ कृष्णार्पणम्
भव-विभव, अधिक कि कम
शिव-अशिव, शुभाशुभम्
प्राप्त जो अगम, सुगम
सब कुछ कृष्णार्पणम्

सत्, असत्, अहम्, इदम्
वृत्ति उच्च या अधम
सुंदरम्, असुंदरम्
सब कुछ कृष्णार्पणम्
व्यर्थ जन्म-मृत्यु-क्रम
ईति-भीति, त्रास-तम
रोग-शोक, दुख चरम
सब कुछ कृष्णार्पणम्
भेद बुद्धि के अलम्
जप-तप, आगम-निगम
मंत्र अब यही परम
सब कुछ कृष्णार्पणम्
पाँव क्यों न जायँ थम
मार्ग चल रहा स्वयम्
मुक्त, आज मुक्त हम
सब कुछ कृष्णार्पणम्

अयि मानस-कमल-विहारिणी!
हंसवाहिनी! माँ सरस्वती! वीणा-पुस्तक-धारिणी!
शून्य, अजान सिंधु के तट पर
मानव-शिशु रोता था कातर
उतरी ज्योति सत्य, शिव, सुंदर
तू भय-शोक-निवारिणी
देख प्रभामय तेरी मुख-छवि
नाच उठे भू, गगन, चंद्र, रवि
चित्ति की चित्ति तू कवियों की कवि
अमित रूप विस्तारिणी

तेरे मधुर स्वरों से मोहित
काल अशेष शेष-सा नर्तित
आदि-शक्ति तू अणु-अणु में स्थित
जन - जन - मंगलकारिणी
अयि मानस-कमल-विहारिणी!
हंसवाहिनी! माँ सरस्वती! वीणा-पुस्तक-धारिणी!

परवर्धित ग्रंथावली के प्रथम खंड में एक द्वितीय भाग जोड़कर, सभी गीत उपर्युक्त गीतों के आगे ग़ज़लों के समान ही, लिखे जाने के क्रमानुसार, प्रकाशित किये गये हैं। ग्रंथावली में सम्मिलित 7 गीत-संग्रहों के बाद **दिया जग को तुझसे जो पाया, मेरे गीत तुम्हारा स्वर हो** तथा **ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया** नामक बाद में प्रकाशित 3 गीत-संग्रह और हैं जो ग्रंथावली के अगले खंड में सम्मिलित होंगे।

इन प्रयोगों के दौरान बीच-बीच में ग़ज़लों की भी बारी आ जाती थी। मेरे नगर क्लीवलैंड में समय-समय पर भारत से अली सरदार ज़ाफरी, खुमार बाराबंकवी, क़ैफ़ी आज़मी जैसे सुप्रसिद्ध शायर आते रहते थे जिनके लिए मुशायरे आयोजित होते थे। इन मुशायरों के संयोजन में श्री खन्ना साहब 'गौहर मुरादाबादी' का विशेष हाथ रहता था। इनमें मुझे भी आमंत्रित किया जाता था और अपनी आदत के अनुसार मैं कोई न कोई नयी रचना अवश्य ले जाता था यद्यपि मेरी पुरानी रचनाएं भी लोग जी भरकर सुनते थे। ऐसे ही आयोजनों के लिए मैंने ग़ज़लों के जैसी भाषा में नज्मों का भी प्रयोग प्रारंभ किया जो मेरी ग़ज़लों की तरह ही सराही गयीं। परंतु मुझे तो उन छोटी-छोटी नज्मों से संतोष नहीं होता था और मैंने मसनवी के रूप में उर्दू में प्रबंधकाव्य लिखने का मन बनाया। प्रेरणा तो प्रारंभ से मुझे कोई और ही देता था। मेरे संकल्प करते ही दूसरे दिन से ही एक मसनवी की पंक्तियाँ कागज पर उतरने लगीं और दो मास की अवधि में हीं **प्रीत न करियो कोय** नामक मेरी रचना पूर्ण हो गयी। इस प्रकार उर्दू शैली की हिंदी की रचनाओं में मैंने ग़ज़ले, नज्म और मसनवी, तीनों पर अपनी लेखनी का प्रयोग किया। **प्रीत न करियो कोय** मसनवी में भी अपनी गज़लों की तरह मैंने उर्दू के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जिनको हिंदी में अपना लिया गया था। नज्मों में तो भाषा का ऐसा संतुलन विशेष कठिन नहीं था परंतु

मसनवी की हज़ार से ऊपर पंक्तियों में तो यह संतुलन बनाये रखना एक कठिन साधना ही थी। यदि ग़ज़लों की रचना करते समय ऐसी भाषा को मैं नहीं साध लेता तो मसनवी में ऐसा कर पाना संभव नहीं होता। जब मैं भक्तिगीतों की रचना कर रहा था, उनके बीच में मानवी प्रेम की ऐसी गहरी कृति का बन जाना मेरे लिए भी एक चमत्कार-सा ही था। यह वैसा ही चमत्कार था जैसा महात्मा गाँधी के निधन की दूसरी रात में एक साथ मेरे द्वारा 46 सॉनेटों का लिखा जाना। मेरे बहुत से शुभचिंतकों ने लौकिक प्रेम की इस मसनवी का प्रारंभ में विरोध भी किया पर उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि और आलोचक श्री गुलज़ार देहलवी ने और प्रतापगढ़ के मेरे घनिष्ठ मित्र इम्तियाज साहब ने भूमिकाएं लिखकर उसे बड़ा महत्त्व प्रदान किया। एक और जहाँ गुलज़ार साहब ने खुसरो, कबीर, दाराशिकोह और नजीर अकबरावादी की परंपरा में उसे घोषित किया वहीं श्री इम्तियाजुद्दीन खां ने, जो स्वयं बहुत बड़े शायर और उर्दू और पर्सियन के मान्य विद्वान हैं, उसे उर्दू की श्रेष्ठतम मसनवियों की श्रेणी में स्थान दिया। इस मसनवी की पुस्तक में मेरे अनजानते एक चमत्कार और घटित हुआ। इसमें मुहावरों का जितना प्रयोग हुआ है वह हिंदी में अन्यत्र दुर्लभ है।

इसके पूर्व मेरे भक्तिगीतों की पुस्तक, **भक्तिगंगा** और **तिलक करें रघुवीर** का विमोचन भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा द्वारा राष्ट्रपति भवन में किया जा चुका था। उस आयोजन में आमंत्रित साहित्यकारों में सर्वश्री गुलज़ार देहलवी, हिमांशु जोशी, मुरारीलाल त्यागी, कलकत्ते के ओमप्रकाश गुटगुटिया, नारायणदत्त मिश्र, शंकरदयाल सिंह की पत्नी काननबाला, गंगाप्रसाद, 'विमल', श्री जयनारायणजी मेठी आदि प्रमुख थे। उस अवसर पर मैंने अपनी भक्तिगीतों की एक पुस्तक, **तिलक करें रघुवीर,** जो राज्यसभा के सदस्य और मेरे घनिष्ठ मित्र कामता सिंह के सुपुत्र स्व. शंकरदयाल सिंह को समर्पित की गयी थी और जिसका विमोचन भी राष्ट्रपतिजी ने भक्तिगंगा के साथ किया था, श्री शंकरदयाल सिंहजी की पत्नी श्रीमती काननबाला को समर्पित की। इस आयोजन के लिए विशेष रूप से मैं, पत्नी की अस्वस्थता के कारण, अकेला ही अमेरिका से भारत आया था। प्रायः एक महीने की प्रतीक्षा के बाद जब विमोचन की तिथि की सूचना मुझे नहीं मिली तो मैंने राष्ट्रपतिजी के निजी सचिव को फोन किया। उन्होंने उत्तर दिया कि गुलाबजी आप अधीर न हों। हम शीघ्र ही तिथि निश्चित करेंगे। राष्ट्रपतिजी तो आपकी कृति **भक्तिगंगा** पर इतने लट्टू हो रहे हैं कि जब भी हम उनके पास जाते है, उन्हें इसी पुस्तक को पढ़ते हुए पाते हैं। मुझे इस समाचार से अत्यधिक आनंद

हुआ। मैंने यह समझ लिया कि मेरी ग़ज़लों के समान मेरे भक्तिगीतों में भी चुंबकीय शक्ति अवश्य है। अपनी ग़ज़लों से अपने गीतों की तुलना करने का एक कारण और भी था। देश के सुप्रसिद्ध नेता श्री जयप्रकाश नारायणजी की मृत्युशय्या पर उनके सिरहाने मेरी ग़ज़लों की पुस्तक **पँखुरियाँ गुलाब की** पायी गयी थी। मेरी पुत्रवधू डॉ. शोभा के नाना महान लोकसेवक, गाँधीवादी नेता श्रद्धेय श्री गौरीशंकरजी डालमिया ने जब **इंडिया टुडे** की वह प्रति मुझे भेजी जिसमें यह सूचना पूरे विवरण के साथ एक कोष्ठक में दी गयी थी तो मैंने वैसी ही कृतार्थता का अनुभव किया था जैसा भक्तिगंगा के संबंध में राष्ट्रपतिजी की उपर्युक्त सूचना से। बाद में मुझे यह सूचना भी मिली कि मेरी वह पुस्तक जयप्रकाश बाबू की अन्य निजी सामग्रियों के साथ दिल्ली में उनसे संबंधित संग्रहालय में रखी गयी है। यह किसी भी कवि के लिए कम गौरव की बात नहीं है कि जयप्रकाश बाबू और भारत के राष्ट्रपति माननीय शंकर दयाल शर्मा उसकी ग़ज़लों और गीतों के प्रति इतनी गहरी रुचि प्रदर्शित करें। मुझको यह आत्मसंतोष हुआ कि मेरा ग़ज़लों का और भक्ति-गीतों का प्रयोग निष्फल नहीं है।

गीतों के क्रम में 1991-92 में मैंने गीतों की विधा में ही दो प्रबंधात्मक कृतियाँ भी लिखीं जिन के नाम हैं **गीत-वृन्दावन** एवं **सीता-वनवास।** इन दोनों गीतात्मक-प्रबंधों को लिखने की मेरी कोई योजना नहीं थी। दोनों भगवती की विशेष कृपा से ही मेरी लेखनी से प्रकट हुई थीं। पहली रचना थी **गीत-वृंदावन** जिसमें कृष्ण के हृदय की राधा के प्रति, अपने द्वारिका चले जाने के बाद की पीड़ा का वर्णन है। राधा की विरह-वेदना का तो संस्कृत और हिंदी में बहुत चित्रण हुआ है पर कभी कृष्ण को भी राधा की याद ने सताया होगा, इस पर हजारों वर्ष के संस्कृत-साहित्य में और उसके बाद के हिंदी काव्य में भी कहीं कोई वर्णन मेरे देखने में नहीं आया। कृष्ण को भी द्वारिका में राधा की स्मृति सताती होगी, इस पर क्यों जयदेव से लेकर किसी रीतिकाल के कवि का ध्यान नहीं गया, यह आश्चर्य की बात है। कुछ दिन पूर्व सुप्रसिद्ध समाज-सेवक, मेरे संबंधी श्री जयनारायण मेठीजी ने मुझे एक पुस्तक दी थी जिसमें एक भक्तद्वारा कृष्ण के हृदय में राधा से मिलने की आकुलता का वर्णन है, पर वह वृंदावन की लीला के क्रम में ही है, कृष्ण के द्वारिका जाने के बाद का नहीं हैं।

राधा-कृष्ण की लीला के लाख से ऊपर गीतों की रचना का श्रेय सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास को दिया जाता है। उन्होंने भी प्रभासक्षेत्र में राधा के मिलने के प्रसंग में यह कहकर छुट्टी पाली—**राधा रुक्मिणि यों मिलीं ज्यों**

एक बाप की बेटी। राधा के तेजस्वी रूप की ओर से तो कवियों ने आँखें ही मूँद रक्खी थीं और उसे केवल रुलाया ही था। मैंने अपने **गीत-वृदावन** के गीतों में कृष्ण के हृदय में राधा की स्मृति की पीड़ा और राधा का तेजस्वी रूप, दोनों का चित्रण किया है।

इसी प्रकार गीत-वृंदावन के बाद लिखे गये मेरे गीतात्मक प्रबंधकाव्य **सीता वनवास** में राम के द्वारा सीता के त्याग की मार्मिक कथा का चित्रण है। यद्यपि **उत्तर रामचरित** में भवभूति ने और **गीतावली** में गोस्वामीजी ने भी भगवान राम द्वारा देवी सीता के परित्याग का चित्रण किया है, प़रंतु मैंने उसे गीतों में भिन्न प्रकार से चित्रित किया है। एक विशेष बात यह है कि अमेरिका में मेरे पास भवभूति का **उत्तर रामचरित** नाटक नहीं था तथा गोस्वामीजी का **गीतावली** का उक्त प्रसंग भी सीता-वनवास की रचना के बाद ही मेरी दृष्टि में आया था। अतः मेरा **सीता-वनवास** काव्य सभी दृष्टियों से सर्वथा मौलिक बन सका अन्यथा दो महाकवियों के तत्संबंधी अध्ययन से मेरी रचना पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ जाता।

सन 1967 में, जब मैं चतुष्पदियों की रचना में संलग्न था, **सीता-वनवास** के शीर्षक से मैंने निम्नलिखित चतुष्पदियाँ लिखी थीं—

था राम को वनवास न दुःख का कारण
सँग बंधु, वधू, प्रेम पिता का, जन-मन
रण जीत फिरे और सदन में हारे
हे प्रिया-विकल भूप! तुम्हें शत वंदन

शोणित से नहीं अश्रु से धुले हैं पृष्ठ
क्या स्वर्ण रत्न से भी अनतुले हैं पृष्ठ
है राम से बड़ा ही सती का वनवास
तुलसी के बिना लिखे जो खुले हैं पृष्ठ

प्रभु पिता-बचन-हेतु गये वन के धाम
इस त्याग में था भोग का सुख और सुनाम
अपयश सहा, वियोग भी, वनवास के साथ
इसलिये प्रथम सीता कहें पीछे राम

जो बात है यथार्थ कही जायेगी
हमसे तो यह चुप्पी न सही जायेगी

सीता के आँसुओं का उमड़ता सागर
तुलसी की कलम लाँघ नहीं पायेगी

इस लघु रचना में भी मैंने सीता की व्यथा को उजागर किया था परंतु उसकी परिणति या प्रत्युत्तर के रूप में रात में सोते समय उक्त कविता की अंतिम चतुष्पदी मेरे अंतर्मन से एकाएक इस प्रकार प्रकट हुई थी कि उसमें उक्त रचना में लगाये गये आरोपों का उत्तर आ जाता था। वह यद्यपि मेरे संस्कारों की उपज थी परंतु मैने उस समय उसे अपने अंतर्वासी भगवान राम की प्रेरणा ही से निःसृत समझा था। वह चतुष्पदी इस प्रकार थी—

राज्यरोहण भी वनवास-सा ही बीता
मन तो वहाँ था जहाँ प्रिया थी पुनीता
और उधर सती भोगती थी राज्य पति का
सीता में राम और राम में थी सीता।

सीता-वनवास के संक्षिप्त कलेवर में मैंने चार-पाँच बार पूरी रामकथा का चित्रण कर दिया है। पहला चित्रण तो उसकी भूमिका-स्वरूप पहले गीत में ही है।

इन दोनों कृतियों को सहृदयों का बहुत आदर मिला तथा गायकों ने भी ख़ूब गाया। ये दोनों कृतियाँ मेरे गीतों के मेरु-शिखरों के समान है। मेरे परम आदरणीय मित्र और प्रशंसक हिमाचल और उत्तर प्रदेश के पूर्व राज्यपाल माननीय विष्णुकांतजी शास्त्री तो अपनी प्रत्येक सभा में उद्‌बोधन के रूप में **सीता-वनवास** की भूमिका का प्रथम गीत अवश्य सुनाते थे। उन्होंने मेरी पुस्तक **सब कुछ कृष्णार्पणम्** की भूमिका में तुलसीदास से मेरी तुलना करके मुझे गौरवान्वित भी किया है।

इसके बाद मैंने अमेरिका लौटकर रचनाधर्मिता से विराम लेने का मन बना लिया था। सोचता था, कम से कम अमेरिका में तो अपने विशाल निजी पुस्तकालय की 3-4 हजार दर्शन, साहित्य और इतिहास की हिंदी और अंग्रेजी की एक-से-एक श्रेष्ठ कृतियों का लाभ उठाऊँगा तथा अपनी ग़ज़लों और गीतों के कैसेट सुनूँगा। परंतु 15-20 दिनों के इस अपने लिये हुए अवकाश को मुझे कैसे छोड़ देना पड़ा इसका विवरण मैं अपनी पुस्तक **गीत-रत्नावली** की भूमिका में दे चुका हूँ। वह घटना इतनी विचित्र है कि यहाँ दुबारा देना भी समीचीन होगा। मैं संध्या समय घूमता हुआ अपने निकट के एक तालाब के

किनारे पहुँचा था कि मुझे लगा जैसे एक सित-वसना नारी मेरे सामने बैठी है। मैं चौंक पड़ा और मुझे लगा जैसे कोई ज्योतिस्तंभ-सा दूसरी ओर खड़ा है। एकाएक मेरे मन में विचार आया कि यह तो तुलसीदास की पत्नी रत्नावली है जो उनसे, जब वे महान संत के रूप में प्रसिद्ध होकर अपनी ससुराल के गाँव में लौटे थे, साथ ले चलने का अनुरोध कर रही है। यह कथा लोकप्रसिद्ध है और कहा जाता है कि तुलसीदास ने उन्हें साथ ले जाने से इन्कार कर दिया था। पता नहीं, यह काल्पनिक दृश्य जिसे **hallucination** (विभ्रम) कहा जा सकता है, मेरे मन में रत्नावली और तुलसीदास के उस पुनर्मिलन के रूप में कैसे अंकित हो गया। वहाँ 10-15 मिनट खड़े-खडे जो विचार मेरे मन में आये उन्हें ही मैंने इस प्रसंग पर लिखे अपने गीति-नाट्य **गीत-रत्नावली** के तीसरे अंक में रत्नावली की पड़ोसिनों द्वारा तुलसीदासजी को गीतों के माध्यम से कहलाये हैं। **गीत-रत्नावली** की कृति, गीतों के माध्यम से नाटक के रूप में उतरी। ऐसी, केवल गीतों के द्वारा नाटक की प्रस्तुति, मैंने अन्य किसी रचना में नहीं देखी यद्यपि गीत-काव्य और विविध छंदों में लिखी सभी रचनाएँ गीति-नाट्य कहलाती हैं। रवींद्रनाथ के गीति-नाट्य भी काव्य-नाटक ही है क्योंकि उनमें काव्य की अन्य शैलियाँ ही प्रधान हैं। पर मेरी इस कृति में तो गीतों के अतिरिक्त एक वाक्य भी दूसरे प्रकार से नहीं कहा गया है। इस प्रकार यह, शुद्ध गीति-नाट्य के रूप में, इस क्षेत्र में साहित्य का प्रथम प्रयोग माना जायगा।

गीत-वृंदावन तो करुण होते हुए भी काव्य की विदग्धता से भरपूर है तथा गायकों को विशेष प्रिय है, परंतु **सीता-वनवास** में तो करुणा ही करुणा का उद्रेक है और उन्हें पढ़नेवाला कोई भी पाठक बीच-बीच में आँसू बहाये बिना नहीं रह सकता। मैंने जहाँ भी **सीता-वनवास** के गीत सुनाये हैं, लोगों की आँखों से आँसू बहने लगे हैं। सीतापुर के एक आयोजन में तो इसकी हद ही हो गयी थी। मैं वहाँ की साहित्य-सभा के आयोजन में अध्यक्ष के रूप में गया था। मैंने अपना अध्यक्षीय भाषण तो अत्यंत संक्षेप में दिया परंतु 'सीतापुर में **सीता-वनवास** के कुछ गीत ही सुनाना अधिक उपयुक्त समझूँगा,' यह कहकर मैं बीच-बीच से प्रसंग बताते हुए **सीता-वनवास** के गीत सुनाने लगा। जब मैंने देखा कि लोगों की आँखों में आँसू बह रहे हैं और मेरा स्वर भी वाष्पावरुद्ध हो रहा है तो मैं पाठ-समाप्ति की घोषणा करके बैठ गया। वहाँ के एक वयोवृद्ध वकील जो संभवतः स्वागताध्यक्ष या स्वागतमंत्री थे, मुझे धन्यवाद देने को खड़े हुए। परंतु कुछ बोलने का प्रयत्न करते ही उनकी जबरन रोकी हुई रुलाई फूट पड़ी।

मैंने उनसे बैठने का अनुरोध किया और कहा कि इससे बढ़कर मेरे लिए और क्या धन्यवाद हो सकता है!

अमेरिका में भी स्थान-स्थान पर मुझे विशेष आयोजनों में बुलाया जाता है जिनमें सिनसिनाटी में श्रीमती रेणु राजवंशी, वाशिंग्टन डी. सी. में प्रमोदजी रावत, कविवर राकेशजी, श्रीमती मधु महेश्वरी, रविप्रकाशजी, डॉ. सत्य प्रकाश अग्रवाल एवं उनकी विदुषी पत्नी, कोलंबस में श्री विपेंद्र जिंदल, न्यूयार्क में श्रीमती कमलेशकुमारीजी आदि के द्वारा किये गये वृहत् आयोजनों में मैं सदा सम्मलित होता रहा हूँ। अमेरिका में एक कवि तो ऐसे हैं जिनकी शैली के कवि भारत में भी कठिनाई से मिलेंगे। वे हैं मेरे संबंधी श्री राकेश खंडेलवाल जिन्होंने छायावाद की कथनभंगिमा को अपने गीतों में नया ही रूप दे दिया है। वे सभा-संचालन में भी निपुण हैं और समयोचित काव्यपंक्तियाँ तुरत जोड़कर महफिल में जान डाल देते हैं। यद्यपि वे अपनी पैरोडी और हास्य-रचनाओं के लिए भी प्रसिद्ध हैं परंतु अपने गीतों के अनूठेपन में तो वे अपनी सानी नहीं रखते और हिंदी गीत-विधा को विशेष समृद्धि प्रदान करते हैं। कवियों में दूसरा नाम है श्रीमती डॉ. अंजना संधीर का, जो कवि के साथ शायरा भी हैं। उन्होंने अत्यंत संघर्षमय जीवन झेलते हुए भी अपनी कर्मठता और साहित्यिक चेतना से अमेरिका के साहित्यिकों में अपना विशेष स्थान बना लिया है। वे हिंदी और उर्दू, दोनों में समान रूप से श्रेष्ठ रचना करती हैं। उन्होंने कई काव्य-संग्रहों का संपादन भी किया है।

मैं अमेरिका में विभिन्न स्थानों पर हुए साहित्यिक आयोजनों और कवि-सम्मेलनों की चर्चा करने लगूँगा तो इसीके लिए एक अलग ग्रंथ तैयार करना होगा। इसलिए इस संबंध में मैं केवल एक-दो आयोजनों का ही विवरण दूँगा।

कनाडा की उत्तरी सीमा पर वहां के अलबर्टा प्रदेश में एडमंटन नामक एक नगर है। वहाँ हिंदीप्रेमियों ने हिंदी-भवन का निर्माण किया था जिसके उद्घाटन के लिए उन्होंने मुझे याद किया। उद्घाटन आदि तो निमित्त होते हैं। मुख्य कार्य तो कवि-सम्मेलनों का होता है जिसमें वहाँ के स्थानीय और समागत कवियों का कवितापाठ होता है। मैं अमेरिका में जहाँ भी जाता हूँ, आयोजकों से दो-तीन दिन तक अपने रुकने का कार्यक्रम बनाने को कह देता हूँ। मैं कोई जौब (Job) (अर्थोपार्जन का कार्य) तो करता नहीं जिससे अन्य अमेरिकावासियों की तरह काम के दिन मुझे घर लौटकर अपने काम में लग जाना पड़े। बुलानेवालों का

मेरे से आने-जाने के व्यय का प्रतिदान, जब तक मेरी रचना का वे भरपूर आनंद नहीं उठा लें, मेरी समझ में, पूरा नहीं मिल पायेगा। मैं किसी प्रकार की फीस या हवाई जहाज के भाड़े के अतिरिक्त तो एक पैसा भी ग्रहण करता नहीं जैसा कि भारत से आनेवाले प्रत्येक कवि, शायर, गायक और कलाकार करते है, केवल मेरी पुस्तकें जो खरीदते हैं उसीके पैसे मेरे हाथ आते हैं। वे भी अत्यंत सीमित परिमाण में होते हैं क्योंकि हवाई यात्रा में अपने सामान के अतिरिक्त 5-7 पुस्तकों से अधिक मैं अपने साथ नहीं ले जा सकता हूँ। एडमंटन नगर की आबादी तो 7-8 लाख से अधिक नहीं है पर समृद्धि की दृष्टि से वह अपनी अलग पहचान रखता है। इस नगर में पेट्रौल बनाने की जितनी रिफाइनरियाँ हैं उतनी संभवतः सारे भारत में भी नहीं होंगी। कच्चे तेल के लिए यहाँ हजारों फुट समुद्र या भूमि के नीचे नहीं जाना होता है। थोड़ी-सी बालू को हटाते ही कच्चा तेल उपलब्ध हो जाता है। उस नगर में एक इतना बड़ा मॉल (जिसमें अनेक व्यापारिक प्रतिष्ठान रहते हैं) है जितना बड़ा मैंने अब तक अमेरिका में भी नहीं देखा है। मीलों लंबे चौड़े इस मॉल में 22 तो सिनेमाघर हैं। दो-तीन रेस्तराँ हैं जिनमें 3-3 हजार व्यक्तियों के बैठने के हॉल हैं। पानी की झील है जिसमें बिजली द्वारा समुद्र की तरह पैदा की हुई लहरें उठती-गिरती रहती हैं। वह झील इतनी गहरी है कि पनडुब्बियों में बैठकर पानी के नीचे घूमने का आनंद उठाया जा सकता है। सब से विलक्षण बात तो यह है कि इस मॉल में हेलीकोप्टर के ऊपर से अधर में कूदने का आनंद भी उठाया जाय, इतनी ऊँची जगहें भी बनी हुई हैं। सारा मॉल एयरकंडीसन्ड (शीत-ताप नियंत्रित) है यह बताने की तो आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि उत्तरी ध्रुव के निकट वह स्थान मेरे नगर क्लीवलैंड से भी अधिक ठंडा है जहाँ बिना एयरकंडीसन के एक-दो घंटे भी बाहर रहना संभव नहीं। जब मैंने पूछा कि इतने बड़े मॉल का, जिसमें दुकानों की संख्या 6 हजार है, इस 6 लाख की आबादीवाले नगर द्वारा किस प्रकार पोषण होता होगा तो मुझे बताया गया कि एक लाख के लगभग व्यक्ति तो प्रतिदिन वहाँ उस मॉल को देखने और खरीद-फरोख्त के लिए बाहर से ही आते हैं।

जिस दिन वहाँ मेरे काव्यपाठ का मुख्य समारोह था उसी दिन वहाँ से पास के एक दूसरे नगर कैलगरी में लता मंगेशकर के गाने का कार्यक्रम था। लता मंगेशकर का आयोजन होते हुए भी मेरे आयोजन में बहुत अच्छी भीड़ जुटी थी। वहाँ दूसरे दिन मैंने जब **सीता वनवास** का पाठ किया तो मैंने देखा कि लोगों

की आँखे सजल हो उठी हैं और वाष्पाकुल कंठ से मुझे भी काव्यापाठ रोक देना पड़ा। एडमंटन में दो-तीन दिन बिताकर मैं लौट रहा था पर कनाडा के टोरंटो नगर में वहाँ के साहित्यकारों ने मेरे लिए एक विशेष आयोजन रक्खा और मुझे वहाँ रोक लिया गया। टोरंटो नगर में मैं कई बार पहले भी जा चुका था। वहाँ का साहित्यिक समाज मुझसे भली भाँति परिचित था। वहाँ कनाडा के सुप्रसिद्ध कवि आदेशजी के नायकत्व में कवियों की भी अच्छी जमात है। ठहराने के लिए मेरे पुत्र के मित्र श्री सतीश रायजी का घर तो मेरे लिए अपने घर जैसा ही था ! वे अत्यंत साहित्य-रसिक भी हैं और मैं जब भी टोरंटो गया हूँ उन्हींके यहाँ ठहरा हूँ।

टोरंटो के आयोजन में सब से सुंदर दृश्य मुझे उस समय लगा जब निश्चित स्थान पर मैं भी सतीश रायजी के साथ उसी समय पहुँचा जब मेरे स्वागत के लिए फूलों का हार और आगत सज्जनों के लिए नाश्ते का सामान लिये हुए स्वागतकर्तागण भी मोटर से उतरे। अमेरिका में नौकर या विद्यार्थियों का जमघट तो किसी भी आयोजन में रहता नहीं है, सारा काम स्वयं करना होता है। फलतः अपने स्वागत के लिए बना फूलों का हार मैंने स्वयं उठा लिया। सामने के विशाल भवन में किस तल्ले पर सभास्थल में कैसे पहुँचना होगा, इसकी चिंता जो मुझे सता रही थी, वह भी हल हो गयी। तभी दूसरी मोटर वहाँ के अन्य कवियों को लेकर पहुँच गयी। मुझे सारा दृश्य भारत के किसी आयोजन के समान ही लगा और विदेश में कनाडा की भूमि पर कवि के नाते यह प्रेमपूर्ण आतिथ्य देखकर हृदय गद्‌गद् हो गया।

मैंने अपनी ग़ज़लों और गीतों की संगीतात्मक उपलब्धि की चर्चा की है। गीतों के इस सृजन में मेरा एक उद्देश्य हिंदी के आधुनिक साहित्य से संगीत को जोड़ने का भी रहा है, जो काम, मैंने अनुभव किया था, छायावादी गीतों से पूरा नहीं हो पाता था। इस दिशा में सब से पहली सफलता की झलक मुझे उस समय मिली जब न्यूयार्क में भारतीय विद्याभवन के निदेशक डॉ. पी. जयरामनजी की पत्नी श्रीमती तुलसी ने मेरे इस प्रयोग की पहली पुस्तक **सब कुछ कृष्णार्पणम्** के मिलते ही उसके 10-15 गीत अपने मधुर कंठ द्वारा विभिन्न रागों में बाँधकर उनका कैसेट मुझे भेजा। गाने के अंत में उन्होंने कैसेट में कहा 'गुलाबजी, आपके गीत ही संगीत हैं। मैंने तो बस उन्हें गुनगुना दिया है।' मैं चमत्कृत हो गया। मुझे लगा कि मैं परीक्षा में पास हो गया। मेरी ग़ज़लें आकाशवाणी के पटना केंद्र से भिन्न-भिन्न गायकों द्वारा गायी जाती थीं। ग़ज़लों की तरह ही, मैंने गायकों द्वारा जन-साधारण के बीच गाये जाने के लिए प्रेम

और भक्ति के गीतों का यह नया प्रयोग भाव-गांभीर्य की रक्षा करते हुए अत्यंत सरल शब्दों में किया था। बाद में तो बहुत लोगों ने मेरे गीत गाये हैं परंतु तुलसीजी ने ही इस दिशा में पहल की थी। इसी प्रकार भारत में मेरे गीतों को संगीत में उतारने का सूत्रपात कलकत्ता में श्रीमती मृदुला कोठारी और श्रीमती मंजु गुटगुटिया द्वारा किया गया। अभी हाल में मेरी वाशिंगटन यात्रा में श्रीमती कुसुम शुक्ला ने भी अपनी मधुर वाणी और संगीतकला द्वारा मेरे 30-40 भक्ति-गीत गाकर उनके कैसेट मुझे भेंट किये हैं जिनको सुनकर कोई भी सहृदय मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। जब मेरी ग़ज़लों का प्रथम संग्रह **सौ गुलाब खिले** प्रकाशित हुआ था तो मेरे परम श्रद्धेय उमेश्वरप्रसाद सिंहजी ने उसकी एक प्रति पटना में रामीबीघा स्टेट के मालिक श्री कृष्णवल्लभ प्रसाद सिंहजी, जिनको बबुआजी के नाम से सारे प्रदेश में लोग जानते हैं, दी। बबुआजी साहित्य के साथ संगीत के भी बहुत प्रेमी हैं। सुप्रसिद्ध ग़ज़ल-गायिका बेगम अख्तर से उनकी अच्छी जान-पहचान थी। उन्होंने **सौ गुलाब खिले** की वह प्रति बेग़म अख्तर को दी जिन्होंने उसकी 4 ग़ज़लें गाने के लिए चुनीं और कहा कि मैं दक्षिण की ओर जा रही हूँ, वहाँ से लौटकर इनका रेकार्ड तैयार करूँगी। दुर्भाग्य से वह उनकी अंतिम यात्रा थी और वे लौटकर फिर अपने घर नहीं आयीं। आज सोचता हूँ कि यदि बेग़म अख्तर की आवाज प्रारंभ में ही मेरी ग़ज़लों को मिली होती तो आज वे कितनी लोकप्रिय हो जातीं। परंतु ग़ालिब की यह पंक्ति मैं हमेशा याद रखता हूँ—**आह को चाहिए एक उम्र असर होने तक,** इसलिए मन को ऐसी बातों में अधिक देर तक उलझाकर नहीं रखता।